eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 09, September 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24239362

दरकते मूल्य और धर्मवीर भारती का निर्भीक चिन्तन

डॉ0 रेनू त्रिपाठी[1]
[1]वरिष्ठ सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु, सिद्धार्थनगर उ0प्र0

Received: 21 June 2026 Accepted & Reviewed: 25 September 2026, Published: 30 September 2026

Abstract

धर्मवीर भारती जितना अपनी रचनाओं में अंतर्निहित प्रेम की रूमानियत के लिए जाने जाते हैं, उतना ही अपनी साहसपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए भी। मानवीय मूल्यों के बिखराव को लेकर गहरी चिंता उनकी रचनाओं का विशिष्ट पहलू है। वस्तुतः मनुष्यता के फलने–फूलने का आधार ये मूल्य ही हैं। इसीलिए इनका दरकना रचनाकार के संवेदनशील मानस को आघात पहुँचाता है। भारती जी की रचनाओं में मूल्यों के प्रति पक्षधरता के साथ ही सघन भाव–संवेदना के बीच चलने वाला आत्मसंघर्ष भी है। अंधा युग जैसी रचना में उन्होंने युद्ध की भयावहता और मूल्यों के विघटन को दर्शाते हुए हमारे भीतर एक विवेक पैदा करने की कोशिश की है कि लालसा का अति फैलाव किसी भी कालखंड को केवल अंधत्व ही देता है। वर्तमान समय में भी हम युद्ध के विषैले वातावरण में जीने को विवश हैं और प्रस्तुत शोध पत्र भारती जी की रचनाओं के परिप्रेक्ष्य में युद्ध की विभीषिका और मूल्यों के निर्वासन को प्रत्यक्ष करता है।

बीज शब्द –युद्ध की विभीषिका, मूल्य, निर्वासन, आधुनिक मानव, सांस्कृतिक विघटन, प्रतिहिंसा, अमानवीयता, रागात्मकता, त्रासदी, साहित्य और समाज, अंधत्व की विजय।

Introduction

धर्मवीर भारती हिन्दी साहित्य जगत में एक ऐसा व्यक्तित्व लेकर उपस्थित होते हैं जिनकी रचनाओं में ईमानदार अभिव्यक्ति है, अनुभूति की तीव्रता है, मानवीय मूल्यों के प्रति आसक्ति है और साथ ही समकालीन विसंगतियों के विरोध की पैनी दृष्टि भी है। इन विशिष्टताओं का सन्तुलन उनके रचना–कर्म को पूर्णता देता है। उनकी रचनाधर्मिता को समझने के लिए उसके भीतर गहरे उतरना होता है और उनके पात्रों में उनके विचारों और भावों के प्रतिबिम्ब को महसूस करना होता है। उनकी अभिव्यक्ति निःसंकोच और बेबाक होती है जिसमें किसी तरह का बनावटीपन नहीं होता। 'निकष' के संपादकीय में वे पाठकों से सीधा संवाद स्थापित करते हैं और पाठक तथा रचनाकार के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध की वकालत करते हैं। साहित्य की जीवंतता वस्तुतः लेखक और पाठक के इसी ताल–मेल पर निर्भर करती है। वे कहते हैं : ''इसीलिए हम नई पीढ़ी के लेखक आपको सम्बोधित कर रहे हैं, अपने और आपके बीच आलोचक की दीवार (जो वास्तव में झरोखा या द्वार होना चाहिए था पर दीवार ही साबित हुई) को हटाकर सीधे आपसे बात कर रहे हैं, इसमें हमें कोई झिझक, संकोच, अहंकार या दूरी का व्यवधान नहीं क्योंकि हमें अपनी कृति के आन्तरिक मूल्यों पर भी उतना ही विश्वास है जितना आपकी ग्रहणशीलता पर।''[1]

लेखन व्यावसायिक न हो, उसकी प्राणवत्ता बनी रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि वह स्वतः स्फूर्त हो। धर्मवीर भारती के लेखन में वह ताजगी दिखायी पड़ती है। 'साहित्य, विचार और स्मृति' के निवेदन में पुष्पा भारती जी उनके लेखन की इसी 'ओरिजिनलटी' को सामने रखती हैं : ''लेखक को निरन्तर कुछ न

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 09, September 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24239362

कुछ लिखते ही रहना चाहिए, इस बात पर कभी विश्वास नहीं करते थे और तभी लिखते थे जब कोई बात उन्हें या तो गहरे छू जाय या कोई विचार उन्हें इतना मथ डाले कि लिखे बिना रहा न जाय।''[2]

वे मानते थे कि साहित्य को स्थायी व खरे मूल्यों का सम्पोषक होना चाहिए। मूल्यों का पक्षधर यह रचनाकार संस्कृति की ओर देखता है तो इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि वह किसी भी प्रकार से नयी चेतना को आत्मसात करने में संकोच करता है :

''ठहरो ! ठहरो ! ठहरो ! हम आते हैं।
हम नयी चेतना के बढ़ते अविराम चरण
हम मिट्टी की अपराजित गतिमय सन्तानें
हम अभिशापों से मुक्त करेंगे कवि का मन।''[3]

युवा पीढ़ी का असंतोष उनकी दृष्टि में परिवर्तनकारी है बशर्ते वह विवेकसम्मत हो। तभी वह कोई रचनात्मक परिणाम दे पाता है। उनके अनुसार शिक्षा प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जो युवा वर्ग को जीवन जीने की दृष्टि दे। उन्हें विरासत में भारतवर्ष के श्रेष्ठ संस्कार तो मिलें ही, युगीन यथार्थ को समझने का विवेक भी उन्हें प्राप्त हो। इससे उनके असंतोष को ठोस धरातल प्राप्त होगा और वह 'क्रिएटिव' होगा।

'मानव मूल्य और साहित्य' में मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में जो कुछ भारती जी ने कहा, वह मनुष्य को लेकर उनके दृष्टिकोण की व्यापकता को दर्शाता है। वे कहते हैं कि यदि व्यापक मानवीय गौरव की स्थापना हो सकती है तो उसी स्थिति में कि समाज के प्रत्येक छोटे से छोटे व्यक्ति के गौरव को वही महत्त्व दिया जाय जो बड़े से बड़े व्यक्ति को मिलता है। उनका कहना था कि मानव को महामानव और लघुमानव के खाँचे में न बाँटा जाय। एक के गौरव का बलिदान कर दूसरे के गौरव की वृद्धि न की जाय। उनका मानना था कि ''साहित्य में शब्द तभी समर्थ, प्रेषणीय और प्राणवान बनता है जब उनमें मानवीय मूल्य आन्तरिक रूप से प्रतिष्ठित रहता है, अन्यथा वे बाँस पर लटकाए गए चीथड़ों की तरह पशुओं के लिए भयोत्पादक और विवेकपूर्ण मनुष्य के लिए हास्योत्पादक बन जाते हैं।''[4]

भारती जी का गद्य प्रेम की सघनता को लेकर भी चला है और कृत्रिमता को काटने की धार भी उसमें है। उनका कथा–जगत प्रेम की रूमानियत से भरपूर है। साथ ही उसमें समाज के यथार्थ का स्पंदन भी है। वहीं उनके निबंध विचार और शिल्प के सुंदर संतुलन के साथ उनकी प्रखर चेतना के संवाहक हैं। उनके काव्य में संवेदनाओं का अथाह संसार तो है ही, शिल्प की दृष्टि से भी वह अनूठा है। ठंडा लोहा, कनुप्रिया, आद्यन्त जैसी काव्य–कृतियाँ तीव्र भाव–संवेदना को सहेजे हुए हैं। इन सबके बीच एक संपादक के रूप में उनकी सजग और चतुर दृष्टि समाज में एक नया संकल्प, रचनात्मकता और चुनौतियों से जूझने का साहस भरने की प्रतिबद्धता लेकर आगे बढ़ी है। 'धर्मयुग' तो मानो साहित्य का एक समूचा युग रच देता है जिसके माध्यम से वे साहित्य और समाज दोनों में संस्कार साधते हैं।

उनकी सर्जनात्मकता का उत्कृष्ट रूप 'अंधा युग' में दिखायी देता है जो गीतिनाट्य का कलेवर लिए हुए युद्ध की विभीषिका को बयान करता है। युद्ध की त्रासदी का चित्रण करते हुए इन्होंने महाभारत की कथा को लेकर तत्कालीन पात्रों को इस भाँति गढ़ा है कि वे आधुनिक मानव का प्रतिबिम्ब लगने लगते हैं। युद्ध की शाश्वत समस्या के परिप्रेक्ष्य में टूटती–बिखरती मर्यादाएँ, कलुषित होती आत्मा और विकृत होते मनोभाव–सब कुछ प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 09, September 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24239362

यह नाटक महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं से लेकर प्रभास तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु तक के घटनाक्रम को घेरता है। युद्ध स्वयं में जीवन और जीवन–आनन्द का विनाश करने वाली विभीषिका है जो पूरे युग को अंधा बना देती है। पौराणिक घटना व पात्रों को आधार बनाकर भारती जी आधुनिक दौर के सांस्कृतिक विघटन को रेखांकित करते हैं जहाँ सम्पूर्ण विश्व दो–दो महायुद्धों को त्रासदी को झेलकर विकृति के चरम पर पहुँच गया है। इस कृति के माध्यम से जीवन की सारी कुरूपता के बीच आस्था के पुंज को सँजोने और समाज को उसे सौंपने का गुरुतर दायित्व उन्होंने निबाहा है। वे कहते हैं : ''...पर एक नशा होता है–अंधकार के गरजते महासागर की चुनौती को स्वीकार करने का, पर्वताकार लहरों से खाली हाथ जूझने का, अनमापी गहराइयों में उतरते जाने का और फिर अपने को सारे खतरों में डालकर आस्था के, प्रकाश के, सत्य के, मर्यादा के कुछ कणों को बटोर कर, बचा कर, धरातल तक ले आने का – इस नशे में इतनी गहरी वेदना और इतना तीखा सुख घुला मिला होता है कि उसके आस्वादन के लिए मन बेबस हो उठता है।''[5] वस्तुतः खुद उस भयावहता में डूबकर सत्य, प्रेम और मनुष्यता के दीर्घजीवी मूल्यों को बचाए रखने का सशक्त दस्तावेज है–अंधा युग।

द्वितीय विश्व युद्ध की भयावहता का जो मंजर उन्होंने देखा, उसके जिन विनाशकारी परिणामों को अनुभव किया, उसे ही महाभारत के युद्ध की पृष्ठभूमि में अपने इस गीतिनाट्य में उतारा। रचना का उद्देश्य क्या है–इसका संकेत प्रारम्भ में ही हो जाता है :

''यह अंधा युग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत है
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोनों ही पक्षों में
सिर्फ कृष्ण में साहस है सुलझाने का
वह है भविष्य का रक्षक, वह है अनासक्त
पर शेष अधिकतर हैं अंधे
पथ भ्रष्ट, आत्महारा, विगलित
अपने अन्तर की अन्ध गुफाओं के वासी
यह कथा उन्हीं अन्धों की है ;
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।''[6]

युद्ध के उपरान्त एक ऐसे युग का जन्म होता है जो मन, वाणी और कर्म से अन्धत्व को प्राप्त कर चुका है और आत्मा का तेज विलुप्त हो चुका है।

अंधकार और प्रकाश का द्वन्द्व सदा से ही होता आया है। इस रचना में भी अश्वत्थामा और कृष्ण का द्वन्द्व है। भारती जी भविष्य में और बदतर होने वाली युद्ध, घृणा और प्रतिहिंसा की भावना का अनुमान कर लेते हैं और आधुनिक मानव के प्रतिनिधि के रूप में अश्वत्थामा का चयन करते हैं। युद्धकालीन मानसिकता की कड़वाहट का यथार्थ चित्रण इस गीतिनाट्य में है। युद्ध की भयावहता को दिखाकर जीवन में मूल्यों को बचाये रखना रचनाकार का अभीष्ट है। वस्तुतः एक लेखकीय मानस जो संवेदनाओं का आगार होता है,

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 09, September 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24239362

उसका ऐसी परिस्थितियों से विक्षुब्ध हो उठना स्वाभाविक ही है जो जीवन की कोमलता, मानवीयता को सोखकर उसे नितान्त निर्मम बना रही हैं।

आधुनिक मानव जिस युद्ध व उससे उपजी विसंगतियों को झेलने के लिए विवश है, उस विवशता को रचनाकार बहुत गहरे पकड़ता है। युद्ध कैसे समूची मानवता को नेत्रहीन बना देता है, नाटक का शीर्षक ही इसकी सार्थकता प्रमाणित कर देता है। महाभारत हर उस युद्ध का प्रतीक है जहाँ शुभत्व की हार होती है, कोमलता की हार होती है और जीतती है घृणाजनित प्रतिहिंसा। करुणा पराजित होती है और विजय होती है अन्धत्व की। कहीं पर वह अन्धत्व भय का था, कहीं ममता का और कहीं अधिकारों का। कौरवों और पाण्डवों के बीच होने वाला यह युद्ध हर मर्यादा का अतिक्रमण कर जाता है। लेखक की चिन्ता मर्यादाओं के बिखरने के परिणामस्वरूप उपजने वाली मूल्यहीनता की स्थिति को लेकर है। देखा जाय तो युद्ध अपने आपमें एक ऐसी विभीषिका है जो जन–धन की हानि तो करती ही है मानो सारे आदर्शों, मूल्यों को भी स्वाहा कर देती है। ऐसे में जो शेष बचता है, उसमें अनैतिकता, अमानवीयता के अतिरिक्त और कुछ पनप ही नहीं सकता :

''अंधों से शोभित था युग का सिंहासन
दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन,
भय का अन्धापन, ममता का अन्धापन,
अधिकारों का अन्धापन जीत गया
जो कुछ सुन्दर था, शुभ था, कोमलतम था
वह हार गया... द्वापर युग बीत गया।''[7]

वस्तुतः किसी भी समस्या के हल के लिए किया जाने वाला युद्ध स्वयं मनुष्य के सारे विकल्पों को नष्ट कर देता है।

निर्भीक चिन्तन भारती जी के लेखन की कसौटी है। जब वे 'मानव मूल्य और साहित्य' सरीखी पुस्तक लिखते हैं तो उसे डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा को समर्पित करते हुए कहते हैं कि जिनकी वजह से निर्भीक चिन्तन का मूल्य जान सका हूँ। और यह निर्भीकता उनके लेखन में निरन्तर बनी रही। इसलिए 'अंधा युग' जैसी रचना के भीतर धृतराष्ट्र, गान्धारी, अश्वत्थामा के साथ युयुत्सु, भीम और युधिष्ठिर जैसे अनेक पात्रों को कठघरे में खड़ा करते समय उनकी लेखनी डगमगायी नहीं। इतिहास के उस कालिमायुक्त अध्याय को इस निर्भीक चिन्तन की कसौटी पर कसकर ही वे आधुनिक मानव के भीतर मूल्यबोध पैदा करने की चेष्टा कर सके हैं।

अश्वत्थामा जैसे चरित्र निःसन्देह हमारे बीच भी हैं जिनकी विवेकशून्यता सम्पूर्ण सृष्टि के अस्तित्व को संकट में डाल देती है। हिरोशिमा, नागासाकी जैसी अनेक घटनाएँ हमारे सामने हैं और यहीं आवश्यकता पड़ती है कृष्ण की। अश्वत्थामा के प्रतिपक्ष में कृष्ण को खड़ा करना ही अन्धत्व को चुनौती देते हुए ज्योति की पुनर्स्थापना का मानो शंखनाद है।

एक रचनाकार न तो अपने युग से असंपृक्त रह सकता है और न भविष्य को ही तमाम विसंगतियों के घेरे में जकड़ा हुआ छोड़ सकता है। इसलिए उसका निरन्तर यह प्रयास होता है कि वह अपनी रचनाओं

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 09, September 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24239362

में यथार्थ अंकन करते हुए हमारा ध्यान उन विषमताओं और उनसे निष्पन्न संकट की ओर आकृष्ट करे और इस प्रयास में बिना किसी आग्रह के वह मुक्त भाव से हमारी चेतना को स्पर्श कर लेता है। जिन मूल्यों के स्खलन की चिन्ता 'अंधायुग' में है, वही आज के समय का भयावह सच है–भोग, लिप्सा, स्वार्थ की अंधी दौड़, अवांछित युद्धों का समाज पर मँडराना और कुंठा, नैराश्य, पराजय, भय और पतन की ओर उन्मुख मानवता।

इस नाटक की एक–एक पंक्ति समकालीनता की सीमा लांघकर आधुनिक परिप्रेक्ष्य में पसर रहे संकट व चुनौतियों को लक्ष्य करती है। नाटक के भीतर एक प्रहरी कहता है : ''अंधे राजा की प्रजा कहाँ तक देखे'' इस पंक्ति में धृतराष्ट्र के व्यक्तित्व, उसकी सोच की गहरी व्यंजना तो है ही, आज के सम्पूर्ण तंत्र की खामियों पर करारी चोट भी है कि अंधे के नायकत्व में प्रजा के लिए सही राह का चुनाव करना और उस पर दृढ़ता से चलना दुष्कर हो जाता है।

मुक्त छंद के संवादों में चलते इस गीतिनाट्य का आधुनिकताबोध इसका वैशिष्ट्य है। प्रत्येक पात्र आधुनिक मानव की भाँति पीड़ा, अन्तर्द्वन्द्व से गुजर रहा है। धृतराष्ट्र के अंधत्व की पीड़ा, गांधारी का द्वन्द्व (सत्य और ममता का सत्य), संजय के भीतर तटस्थ और निष्क्रिय होने का द्वन्द्व, युयुत्सु का अनास्था का द्वन्द्व, अश्वत्थामा का अमानुषिक होने का द्वन्द्व और स्वयं श्रीकृष्ण का मर्यादा के खण्ड–खण्ड होने के बीच मूल्यों को बचाए रखने का द्वन्द्व तथा इन सभी को पीड़ा को धारण करते रचनाकार का द्वन्द्व। वस्तुतः मनुष्यता की जो धरोहर रचनाकार हमें सौंपना चाहता है, उसके लिए युद्ध के विषैले वातावरण में आकंठ डूबकर वह आस्था के कण बटोरता है।

युद्ध किसी भी रूप में किसी समस्या का स्थायी व सुखद विकल्प नहीं हो सकता हालांकि मानव ने सदा ही विकल्प के रूप में युद्ध को अपनाया है। परिणामतः अपने लिए बारम्बार विघटनकारी स्थितियाँ भी उत्पन्न की हैं। इतिहास अनेक युद्धों का साक्षी रहा है। वर्तमान सन्दर्भों का आकलन करें तो वैश्विक पटल पर चल रहा रूस और यूक्रेन का युद्ध हो, चाहे ईरान और अमेरिका का, युद्ध कोई समाधान नहीं दे सका सिवाय इसके कि अनगिनत मासूमों की पुनः युद्ध की वेदी पर बलि दे दी गयी। और उनके पीछे छूट गया रोता–बिलखता, स्वयं को कोसता, जीवन को उदासी की तरह धारण करता परिवार, साथ ही लालसा व अति महत्त्वाकांक्षा में अन्धे हो चुके शासकों की ओर शून्य भाव से देखता जनतंत्र।

आधुनिक जीवन के समस्त अन्तर्विरोध, एकाकीपन, टूटन, बिखराव व विडम्बना जैसे मूल्यों का उद्‌गम भारती जी महाभारतकालीन परिस्थितियों में ही दिखा देते हैं। उनके साहित्य की उर्वर भूमि का अनुमान इसी से हो जाता है कि 'अंधा युग' जैसी रचना में अभिव्यक्त प्रत्येक चिन्ता, पीड़ा से हम वर्तमान जीवन को घिरा हुआ पाते हैं। नाटक का आरम्भ होता है। पंक्ति है :

''उस भविष्य में
धर्म अर्थ ह्रासोन्मुख होंगे।
क्षय होगा धीरे–धीरे सारी धरती का
• • •
सत्ता होगी उनकी
जिनकी पूँजी होगी''[8]

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 09, September 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24239362

यह बेबाक अभिव्यक्ति एक सच्चे लेखकीय मानस की पहचान है। एक ऐसी व्यंजना जो आज के समय में पूरी तरह चरितार्थ हो रही है जहाँ सत्ता के लोभ में अपनाए जा रहे हर तरह के हथकंडों का आधार पूँजी ही बन रही है। अन्धा शासन वर्तमान तन्त्र के खोखलेपन पर भी कटाक्ष है जहाँ भाई–भतीजावाद, अवसरवादिता, हिंसा का बोल–बाला है। अपराध तो जैसे सत्ता का अनिवार्य अंग बन गया है और इन सबके बीच हताशा और पीड़ा की खोल में सामान्य जन दुबका पड़ा है। 'अंधा युग' में भारती जी ने दो प्रहरी पात्रों का सृजन किया है जिनके संवाद अन्धों के शासन में अपनी जड़ें जमाये अन्धी संस्कृति को रोगी मर्यादा के रूप में चिन्हित करते हैं। युद्ध जनित घृणा और प्रतिहिंसा सारे मूल्यों को गलाकर घोर अनैतिकता में परिणत होती है और मनुष्य का अश्वत्थामा जैसा हिंसक पशु बन जाना स्वाभाविक हो जाता है।

मूल्यों का विघटन व आस्था का संकट भारती जी की चिन्ता का मूल है। युद्धकालीन परिस्थितियाँ मानव–जीवन को अनास्था की जंजीरों में जकड़ती जाती हैं क्योंकि आस्था को जीवित रखने वाले मूल्य पहले ही मर चुके होते हैं:

''उस दिन जो अन्धा युग अवतरित हुआ जग पर
बीतता नहीं रह–रह कर दोहराता है
हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
हर क्षण अंधियारा गहरा होता जाता है।''[9]

मूल्यों के इस तरह मरने में मानो साक्षात् ईश्वर की भी पीड़ा से बार–बार मृत्यु हो रही है। बर्बरता, अमानवीयता प्रकाश की किरण को, आस्था के तेज को ढाँप ले रही है।

रचना का सत्य लेखक की संवेदनशीलता से उभरता है। भारती जी कहते हैं कि ''स्वातंत्र्य, गौरव, करुणा, सौन्दर्य और सुख ये शब्द निरर्थक हैं, असंगतियों से भरे हुए हैं और केवल तभी इनमें अर्थ की प्रतिष्ठा हो सकती है जब समाज का वैषम्य दूर हो.....''[10] जबकि युद्धजनित परिस्थितियाँ मानव–मानव के बीच की खाई को और गहरा करती जाती है। मूल्यों की बात करते–करते भारती जी हमारे मर्म को भेद जाते हैं और पूरा का पूरा आधुनिक समाज बेनकाब हो जाता है जब वे कहते हैं :

''राजशक्तियाँ लोलुप होंगी
जनता उनसे पीड़ित होकर
गहन गुफाओं में छिप–छिपकर दिन काटेगी''[11]

और यहाँ एक झटके में हमारा वर्तमान महाभारत काल से हमें खींचकर अपना सामना करने को बाध्य कर देता है। हम एक अंधे युग से दूसरे अंधे युग में प्रतिस्थापित हो जाते हैं।

धर्मवीर भारती साहित्य और संस्कृति के सजग प्रहरी के रूप में हमारे सामने आते हैं। मानव–मूल्यों की अनिवार्यता व संस्कृति के प्रति सतर्क दृष्टि उनकी रचनाओं की सामर्थ्य है। वे कपोल कल्पित कथानक और पात्रों पर हाड़–माँस के बने यथार्थजीवी पात्रों को तरजीह देते हैं जो जीवन के वास्तविक संघर्षों से उलझने का साहस दिखाते हैं, जीवन–जगत की पीड़ा से सीधा साक्षात्कार करते हुए आगे बढ़ते हैं। प्रभु कृष्ण भी गांधारी के द्वारा अभिशप्त होते हैं और ऐसे में अकेले युधिष्ठिर समझते हैं कि कुरूक्षेत्र की रणभूमि में एक विकृत युग के बीज बोये गए हैं। भारती जी लिखते हैं :

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 09, September 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24239362

''थे एक वही जो समझ रहे थे क्या होगा
जब शापग्रस्त प्रभु का होगा देहावसान
जो युग हम सबने रण में मिलकर बोया है
जब वह अंकुर देगा, ढँक लेगा सकल ज्ञान।''[12]

नाटक का अन्त मूल्यों के पुनः जी उठने और नव निर्माण की झलक में होता है जिसका संकेत कृष्ण द्वारा किया जाता है। इसलिए क्रूर यथार्थ और घृणित स्थितियों का अवलोकन कराते हुए भी यह रचना हमारे भीतर किसी तरह की नकारात्मकता का पोषण नहीं करती। यही इस रचना और रचनाकार की शक्ति है। कृष्ण के शब्दों में मानो जीवन जी उठता है :

''लेकिन वे मेरा दायित्व लेंगे
बाकी सभी
मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा
हर मानव–मन के उस वृत्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर।
नित नूतन सृजन में
निर्भयता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार–बार।''[13]

वस्तुतः एक लेखक की सबसे बड़ी ताकत यह होती है कि वह आस्था व अनास्था के द्वन्द्व में आस्था का बीज रोपे। भारती जी की इस आस्थावादिता को कभी–कभी आधुनिक भावबोध के विपरीत खड़ा करने की कोशिश की जाती है किन्तु उनकी रचनाओं का मर्म समझें तो उत्तर स्वयं मिल जाता है। विदुर युयुत्सु से कहते हैं :

''यह तो मिलता ही है सदा उन्हें
जो कि एक निश्चित परिपाटी
से होकर पृथक्
अपना पथ अपने आप
निर्धारित करते हैं''[14]

कहीं न कहीं भारती जी के लेखन में भी अपनी पृथक् राह बनाने की दृढता है।

'अंधा युग' जहाँ तर्कों और गहन विचारों से अनुप्राणित है, वही 'कनुप्रिया' के भीतर गहरी रागात्मकता की अभिव्यक्ति है। 'अंधा युग' में युद्धजन्य अमानवीयता को लेकर आकुलता है और 'कनुप्रिया' मानो उस

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 09, September 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24239362

आकुलता के समक्ष प्रेम की सघनता को लेकर उपस्थित होती है। 'अंधा युग' के कूटनीतिज्ञ कृष्ण जिन्होंने सत्य की विजय के लिए कई बार स्वयं भी मर्यादा को खण्डित होने दिया, 'कनुप्रिया' में वे राधा के उन प्रश्नों से बिंधते हैं जिनमें प्रेमपूर्ण सरल हृदय का सहज उच्छ्वास है।

सही मायने में यह रचना युद्ध के प्रतिपक्ष में प्रेम को खड़ा करती है। गहरी तन्मयता के क्षण राधा को अधिक प्रिय लगते हैं। महाभारत के युद्ध में जिस कृष्ण को हम देखते हैं उससे ऊपर राधा कृष्ण के उस रूप को महत्त्व देती हैं जो रागात्मकता की प्रतिमूर्ति हैं और जो सदैव राधा के प्रेम में लीन रहते हैं। युद्धकालीन घृणा, रक्तपात, हिंसा, वैमनस्य से विलग राधा–कृष्ण का प्रेम सत्य है जहाँ प्रकृति अपने हर रूप में उनकी सहचरी है। युद्ध का विध्वंस और प्रेम की तन्मयता दोनों स्तरों पर राधा कृष्ण को देखती हैं। यह व्यथा उन्हें सालती है कि कदम्ब का वृक्ष, आम की डाल, आम्र मंजरी जो दोनों के आत्मीय क्षण के साक्षी हैं, युद्ध की निर्ममता उन्हें नष्ट कर देगी।

'कनुप्रिया' के भीतर मानव–जीवन की अन्तर्विरोधी स्थितियों को देखा जा सकता है–प्रेम और युद्ध के रूप में। रचनाकार अपनी ओर से कोई निर्णय नहीं थोपता, केवल राधा के प्रश्नों के माध्यम से गहरी व्यंजना करता है कि प्रेम और युद्ध में मानव के लिए किसकी अनिवार्यता है ? और इस क्रम में पाठक को ग्राह्य व अग्राह्य के भेद को पहचानने की दृष्टि दे जाता है।

निष्कर्ष – धर्मवीर भारती का मानना था कि साहित्यकार संस्कृति की गतिमयता में योग देता है। वह रचना में ऐसे तत्त्वों, ऐसे प्रश्नों को उभारता है जो संस्कृति की उजास बनाए रखने के लिए अनिवार्य है। भारती जी को मूल्यों का निर्वासन कतई स्वीकार नहीं। इस सन्दर्भ में देखें तो उनकी रचनाएँ जीवन के स्थायी मानव–मूल्यों को युगधर्मिता के बीच प्रतिष्ठित करने की पुरजोर कोशिश करती हैं।

संदर्भ ग्रन्थ–

1. धर्मवीर भारती (सं०) : निकष, सम्पादकीय
2. धर्मवीर भारती : साहित्य, विचार और स्मृति, निवेदन
3. धर्मवीर भारती : ठंडा लोहा, पृ0–56
4. धर्मवीर भारती : मानव मूल्य और साहित्य, पृ0–97
5. धर्मवीर भारती : अंधा युग, भूमिका
6. धर्मवीर भारती : अंधा युग, स्थापना
7. धर्मवीर भारती : अंधा युग, अंक–1, पृ0–11
8. धर्मवीर भारती : अंधा युग, स्थापना
9. धर्मवीर भारती : अंधा युग, समापन, पृ0–100
10. धर्मवीर भारती : मानव मूल्य और साहित्य, पृ0–19
11. धर्मवीर भारती : अंधा युग, स्थापना
12. धर्मवीर भारती : अंधा युग, अंक–5, पृ0–80
13. धर्मवीर भारती : अंधा युग, समापन, पृ0–99
14- धर्मवीर भारती : अंधा युग, अंक–3, पृ0–44